भाई बना न सकता परके गुणों को,
कोई पदार्थ, कहते जिन सज्जनों को ।
प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से,
उत्पन्न हो लस रहे कि युगों-युगों से ॥४००॥

निन्दामयी स्तुतिमयी वचनावली है,
चैतन्य शून्य जड़ पुद्गल की कली है ।
हो रुष्ट तुष्ट उसको सुन मूढ़ ऐसा,
मैं निंद्य पूज्य खुद हूँ कर भूल ऐसा ॥४०१॥

जो शब्द रूप ढल पुद्गल द्रव्य भाता,
बोला मुझे न कुछ भी मुझसे न नाता ।
हे ! मूढ़ क्यों न इस भाँति विचारता है,
क्यों रोष-तोष कर होश विसारता है ॥४०२॥

वो शब्द हो अशुभ हो शुभ हो "सुनो" रे,
ऐसा कभी न कहता कि मुझे गुणों रे ।
जो कर्ण का विषय मात्र बना हुवा है,
होता ग्रहीत न, स्वतन्त्र तना हुवा है ॥४०३॥

वो रूप ! हो अशुभ हो, शुभ हो, लखो रे !
ऐसा कहे न कि मुझे दृग से चखो रे !
जो नेत्र का विषय मात्र बना हुवा है,
होता गृहीत न स्वतंत्र तना हुआ है ॥४०४॥

वो गंध हो अशुभ यो शुभ सूँघ लेना,
ऐसा कहे न कि मुझे कुछ मूल्य देना ।
पै नासिका विषय केवल वो बनी है,
आती नहीं पकड़ में यह तो सही है ॥४०५॥

ऐसा तुम्हें न कहता रस वो कदापि,
चाखो मुझे अशुभ या शुभ हो तथापि ।
जिह्वेन्द्रिका विषय हो पर स्वाश्रयी है,
आता नहीं पकड़ में न पराश्रयी है ॥४०६॥

बोले न स्पर्श कि शुभा-शुभ यों किसी से,
संस्पर्श तू कर मुझे कर से रूची से ।
पै स्पर्श स्पर्श रहता वश में न आता,
हो काय का विषय यों पर भिन्न भाता ॥४०७॥

जानों हमें गुण शुभा-शुभ ये कदापि,
ऐसा न बाध्य करते तुमको अपापी ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं,
होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०८॥

अच्छे बुरे सब पदार्थ हमें पिछानों,
ऐसा कभी न कहते कि हमें सुजानो ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं,
होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०९॥

यों भाव की पकड़ में रह मूढ़ रीता,
जीता पिपासु बन, साम्य सुधा न पीता
सम्भोग का रसिक मात्र परानुरागी,
विज्ञान से विरत है विधि से सरागी ॥४१०॥

अज्ञान से विगत में निजभाव बाना,
भूला किया अशुभ या शुभ भाव नाना ।
शुद्धात्म को सजग हो उनसे छुड़ाना,
माना प्रतिक्रमण आज उसे निभाना ॥४११॥

भावी शुभा-शुभ विभाव विकार देखो !
होंगे प्रमादवश आतम में अनेकों ।
आत्मा स्वयं यदि उन्हें निज से हटाता,
है प्रत्यख्यान वह है सुख का विधाता ॥४१२॥

तत्काल जो कलुषराग तरंगमाला,
है जन्मती हृदय में दुख पूर्ण हाला ।
विज्ञान से बस उसे झट से हटाना,
आलोचना वह रही प्रभु का बताना ॥४१३॥

जो प्रत्यखान करता रुचिसंग साता,
साधू प्रतिक्रमण धार, सदा सुहाता ।
आलोचना सरसि में डुबकी लगाता,
चारित्र निश्चय जिसे शिर मैं नवाता ॥४१४॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को,
आत्मीय मान, चखता जड़ के दलों को ।
मोही नवीन विधि के दुख बीज बोता,
खोता विवेक चिर औ भव बीच रोता ॥४१५॥

आए हुए उदय में विधि को फलों को,
है भोगता तज कुधी निज में गुणों को ।
मैंने किया यह सभी जब मान लेता,
मोही नवीन दुख को पुनि माँग लेता ॥४१६॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को,
जो भोगता तज कुधी निज के गुणों को ।
मोही दुखी यदि सुखी नित हो रहा है,
हा दुःख बीज विधि के पुनि बो रहा है ॥४१७॥

है जानता स्वपर को न कभी निजी से,
वो शास्त्र, ज्ञान नहिं हो सकता इसी से ।
पै शास्त्र, शास्त्र 'जड़' केवल नाम पाता,
पै ज्ञान, ज्ञान बस चेतन धाम भाता ॥४१८॥

ये शब्द ज्ञान नहिं हो सकते इसी से,
वे जानते न परको निजको निजी से,
पै शब्द शब्द पर पुद्गल है निराला,
पै ज्ञान ज्ञान बस चेतन है निहाला ॥४१९॥

रे ! रूप, ज्ञान नहिं है जिन हैं बताते,
वे क्योंकि आप-पर को नहिं जान पाते ।
तो रूप रूप जड़कूप निरा निरा है,
औ ज्ञान ज्ञान जगभूप निरा खरा है ॥४२०॥

ना जानता वह कभी कुछ भी यतः है,
रे वर्ण ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
हो वर्ण, वर्ण यह वर्णन वर्ण का है,
हो ज्ञान ज्ञान, मत दिव्य जिनेन्द्र का है ॥४२१॥

जो जानता न कुछ भी जड़ की निशानी,
है 'गंध' ज्ञान नहिं है यह वीर वाणी ।
हो 'गंध' 'गंध' भर ही यह गंध गाथा,
हो ज्ञान ज्ञान ध्रुव जीवन संग-नाता ॥४२२॥

ना जानता रस कभी रस को यतः है,
होता न ज्ञान, रस वो रस ही अतः है ।
है ज्ञान भिन्न रस भिन्न निरे निरे हैं,
ऐसा कहे जिन हुए अघ से परे हैं ॥४२३॥

वो स्पर्श ज्ञान है नहिं कहते यमी है,
हो जानता स्वपर को न यही कमी है ।
हो स्पर्श स्पर्श पर हो जड़ मात्र न्यारा,
हो ज्ञान ज्ञान गुण चेतन पात्र प्यारा ॥४२४॥

ना कर्म जान सकता कुछ भी यतः है,
वो कर्म, ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
है कर्म कर्म पर पुद्गल धर्म-वाला,
है ज्ञान ज्ञान शुचिचेतन-शर्मशाला ॥४२५॥

धर्मास्तिकाय वह ज्ञान नहीं अतः है,
वो जानता स्वपर को न कभी यतः है ।
धर्मास्तिकाय वह भिन्न सदा रहा है,
है ज्ञान भिन्न मत यों जिनका रहा है ॥४२६॥

होता न ज्ञान यह द्रव्य अधर्म ज्ञाता-
औचित्य है न कुछ भी वह जान पाता ।
अत्यन्त भिन्न चिर द्रव्य अधर्म भाता,
है ज्ञान भिन्न पर से रखता न नाता ॥४२७॥

वो काल ज्ञान नहिं हो सकता अतः है,
वो काल जान सकता कुछ भी यतः है ।
पै काल काल जड़ ही चिरकाल भाता,
लो ज्ञान ज्ञान मणिमाल निहाल साता ॥४२८॥

आकाश जान सकता कुछ भी नहीं है,
आकाश ज्ञान नहिं हो सकता सही है ।
आकाश भिन्न यह ज्ञान विभिन्न प्यारा,
देते जिनेश जग को उपदेश सारा ॥४२९॥

होता ना ज्ञान यह अध्यवसान सारा,
वो जानता न कुछ भी जड़ का पिटारा ।
बोले जिनेश वह अध्यवसान न्यारा,
चैतन्य धाम यह ज्ञान प्रमाण प्यारा ॥४३०॥

है जानता सतत जीव अतः प्रमाणी ।
है शुद्ध ज्ञान घन ज्ञायक पूर्ण ज्ञानी ।
होता न ज्ञान उस ज्ञायक से निराला,
जैसा अनन्य इस दीपक से उजाला ॥४३१॥

विज्ञान संयम सुदर्शन है सुहाता,
औ द्वादशांग श्रुत पूर्ण वही कहाता ।
विज्ञान साधुपन धर्म अधर्म भी है,
ऐसा सदैव कहते बुध ये सभी है ॥४३२॥

आत्मा अमूर्त वह मूर्त कभी नहीं है,
आहार ग्राहक अतः बनता नहीं है ।
आहार मूर्त जड़ पुद्गल धर्म वाला,
पीते मुनीश कहते शिव शर्म-प्याला ॥४३३॥

होता सदोष गुण है पर द्रव्य ग्राही,
ऐसा सदा समझते शिवराह राही ।
निर्दोष आत्म गुण निश्चय से किसी को,
पै त्यागता न गहता, गहता निजी को ॥४३४॥

ना तो चराचर सजाति विजातियों को,
जो छोड़ती न गहती पर वस्तुओं को ।
आदर्श सी विमल निर्मल चेतना है,
पूजूँ उसे विनशती चिर वेदना है ॥४३५॥

ये दीखते जगत में मुनिसाधुवों के,
हैं भेष, नैक विधि भी गृहवासियों के ।
वे अज्ञ मूढ़ इनको जब धारते है,
है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते हैं ॥४३६॥

पर्याप्त केवल नहीं तन नग्नता है,
तू मान पंथ शिवका निज मग्नता है ।
होते निरीह तन से अरिहन्त तातै,
चारित्र बोध दृग लीन स्वगीत गाते ॥४३७॥

पाखंडिलिंग गृहिलिंग धरो तथापि ।
वो मोक्ष मार्ग नहिं हो सकता कदापि ।
तीनों मिले चरितदर्शन बोध सोही,
है मोक्ष-मार्ग कहते जिन वीत-मोही ॥४३८॥

सागार और अनगार पदानुराग,
वाक्काय से मनस से झट त्याग जाग ।
सम्यक्त्व बोध व्रत में शिवपंथी में ही,
भाई विहार कर तो सुख हाथ में ही ॥४३९॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो ।
अन्यत्र छोड़ निजको न करो विहारो ।
संबंध मोक्ष पथ से अविलंब जोड़ो,
तो आपको नमन हो मम ये करोड़ो ॥४४०॥

गार्हस्थ्यलिगं भर में मुनिलिंग में ही,
जो मुग्ध साधक रहा बहिरंग में ही ।
अज्ञात ही समयसार उसे रहेगा,
संसार में भटकता दुख ही सहेगा ॥४४१॥

दो द्रव्य भावमय लिंग नितान्त पाये-
जाते विमोक्ष पथ में 'व्यवहार' गाये ।
पै लिंग का न शिव के पथ में सहारा,
'आत्मा' अलं सहज निश्चय ने पुकारा ॥४४२॥

साधु स्वयं समयसार सुना सुनाता,
सारांश आदर सदा गुणता गुणाता ।
पीता सदा समयसार-सुधा-सुधारा,
सानन्द शीघ्र तिरता भवसिंधु-दारा ॥४४३॥

समाप्त

हे ! कुन्द-कुन्द गुरु कुन्दनरूपधारी,
स्वीकार हो कृति तुम्हें कृति है तुम्हारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ॥

चेतना के गहराव में

परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी के पुनीत सानिध्य में, पूज्य जयसेनाचार्य कृत सुगम-सरस-समरसपूरित तात्पर्यवृत्ति के माध्यम से ग्रन्थराज समयसार का रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त पूज्य अमृतचन्द्र-सूरि कृत आत्मख्याति को देखने की मन में अभिरुचि हुई। गुरु महाराजश्री के चरणों में सविनय भावना अभिव्यक्त की। उदार हृदय वाले, करुणा से ओत-प्रोत, वात्सल्य की साकार मूर्ति गो-माता जैसी बछड़े तो स्तन पिलाती है वैसे ही गुरुवर ने मुझे अपूर्व अध्यात्मरस से परिपूरित, सहज शान्त सुख का विधान, आत्म-ख्याति टीका का रसास्वादन कराया। फलस्वरूप आत्म ख्याति आत्म-सात् हुई। चेतना की लीला ज्ञात हुई। तप्त था, तृप्त हुआ। क्लान्त था, शान्त हुआ। मेरा आत्मा तुष्ट हुआ, संतुष्ट हुआ। निरन्तर अभय की अनुभूति के साथ निराबाध। यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वतन्त्र यात्रा कर रहा हूँ। एकाकी यात्री।

स्वयं को अवगाहित कर रहा हूँ!
अतल अगम, सत् चेतना के गहराव में!
मस्तक के बल पर,
दोनों हाथों से,
नीचे से नीर को चीरता हुआ,
चीरता हुआ
ऊपर की ओर फेंकता हुआ,
फेंकता हुआ,
जा रहा हूं,
आर-पार होने जा रहा हूं।
अपार की यात्रा करने जा रहा हूँ।
पथ में कोई आपत्ति नहीं है।
आपत्ति की सामग्री अवश्य,
ऊपर-नीच,
आगे-पीछे
बिछी है।
किन्तु अभी कोई ओर!
छोर
दृष्टि में नहीं आ रही है,
शोर भी तो नहीं।
चारों ओर मौन का साम्राज्य।
विस्तृत वितान
बस!
सब कुछ स्वतंत्र
अपनी-अपनी सत्ता को संजोये हुए
सहज सलील समुपस्थित।
परस्पर में किसी प्रकार का टकराव नहीं,
लगाव के भाव नहीं।
अपने अपने ठहराव में।
अपने अपने संवेदन
अपने अपने भाव
पर से भिन्न
अपने से अभिन्न
निरभ्र आकाश-मण्डल में-
उडुगण की भांति
ज्ञानादि उज्ज्वल उज्ज्वल गुणमणियां
अवभासित हैं,
अवलोकित है।

आलोक का परिणमन यहां
घनीभूत प्रतीत होता है।
लो!
यहीं पर मिथ्यात्व रूपी मगर-मच्छ से भी
साक्षात्कार।
किन्तु उधर से आक्रमण नहीं,
कटाक्ष नहीं
संघर्ष के लिये
कोई आमन्त्रण भी नहीं।
अनन्तकोटि से निष्पन्न
उसका शरीर है।
कठोरता का शुद्ध परिणमन
कठोरता की परम सीमा है।
परन्तु मृदुता विरोध नहीं करती।
विरोध में बोध कहाँ?
बोध बिना शोध कहाँ?
विरोध तो अज्ञान का प्रतीक,
अन्धकार॥
ओ!
नयन-गवाक्षों से
फूटती हुई
अबाधित ज्योति किरण
मेरी ओर चान्दी की पतली धार सी,
आ रही है।
सानन्द आसीन है,
सत्तागत अनन्तानुबन्धी सर्प
कंदर्प-दर्प से पूरा भरा है।
ज्ञान-ज्ञेय का सहज सम्बन्ध हुआ।
शुद्ध-सुधा
और विष का संगम हुआ।
यह ज्ञान के लिए अपूर्व अवसर है।
ज्ञान न तो दुखित हुआ,
न सुखित हुआ
किन्तु यह सहज
विदित हुआ
कि
ध्यान-ध्येय के सम्बन्ध से भी
ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध
महत्वपूर्ण है
पूर्ण है।
सहज है।
कोई तनाव नहीं।
इसमें केवल स्वभाव है।
भावित भाव।
ध्येय एक होता है।
जब ध्यान ध्येय में उतरता है,
तब ज्ञान संकीर्ण होता है,
ससीम होता है।
संकुचित ज्ञान
अनंत का मुख, छू नहीं सकता।
अतः ज्ञान प्रवाहित होता हुआ,
अनाहत बहता हुआ
जा रहा है।
सहज अपनी स्वभाविक गति से।
अद्भुत है।
अननुभूत है।
विकार नहीं,
निर्विकार है।
तप्त नहीं,
क्लान्त नहीं।
तृप्त है,
शान्त है।
जिसमें नहीं ध्यान्त है।
जीवित है

जागृत भी नितान्त है।
आपने में विश्रान्त है।
यह विभूति !
अविकल, अनुभूति !
ऐसे ज्ञान की शुद्ध परिणिति का ही
यह परिपाक है,
कि उपयोग का द्वितीय पहलु,
दर्शन ने अपने चमत्कार का परिचय देना,
प्रारम्भ किया है।
अब भेद
पतझड़ होता जा रहा है,
अभेद की बसन्त क्रीड़ा प्रारम्भ।
द्वैत के स्थान पर अद्वैत उग आया है।
विकल्प मिटा,
अविकल्प उठा।
आर-पार हुआ,
तदाकार हुआ
निराकार हुआ,
समयसार हुआ
वह मैं !!!
"मैं" में सब,
सब में 'मैं'
प्रकाश में प्रकाश का अवतरण।
विकाश में विनाश का उत्सर्गित होता हुआ,
सम्मिलित होता हुआ,
सत् साकार हो उठा।
आकार में निराकार हो उठा।
इस प्रकार
उपयोग की लंबी यात्रा
मत्, त्वत् और तत् को
चीरती हुई
पार करती हुई,
आज !!!
सत् में विश्रान्त है।
पूर्ण काम है।
अभिराम है।
हम नहीं,
तुम नहीं,
यह नहीं,
वह नहीं,
मैं नहीं,
तू नहीं
सब घटा,
सब पिटा,
सब मिटा,
केवल उपस्थित
सत्, सत सत है ! है ! है !

ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने के लिए भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य कृत समय-सार पथ एवं पाथेय का कार्य करता है। इसका आश्रय लेकर ही सत्-पथ-पथिक, ध्रुव-बिन्दु की ओर गतिमान होता हुआ, समुचित -समय पर कृत-कृत्य हो जाता है। सत्य तथ्य पाता है। ऐसे अपूर्व ग्रन्थराज समयसार के ऊपर, सर्वप्रथम अमृत चन्द्र सूरिजी ने आत्म-ख्याति नामक वृहत् संस्कृत टीका का अर्विमान किया जो अपने आप में एक अनुपम निधि है। मैंने जब इसका अवलोकन किया, तब भाषा की गहनता का पूर्ण परिचय मिला और साथ-साथ अनुपम पद लालित्य ने मन को मोहित किया। इसी पद लालित्य ने इस कृति का बार-बार अवलोकन कराया। फलस्वरूप विषय विदित हुआ, अवगत हुआ, आत्मा से सहज संगम हुआ।

समय - सार

हम भाषा के माध्यम से मन में उठते हुए विचारों को दूसरों तक सहज एवं स्पष्टरूपेण भेज सकते हैं। इसी प्रकार ग्रंथ के गूढ़तम विषयों को टीकाओं, भाष्यों एवं अनुवादों के माध्यम से अवगत करा सकते हैं। भाव स्पष्ट करने की पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती है। कोई लेखक गद्य के, कोई पद्य के, कोई अभय नाटक (चम्पू) के माध्यम से ग्रन्थ के आशय को उद्घाटित करते हैं। प्रासंगिक समयसार पर लिखी हुई आत्म-ख्याति टीका भी नाटक-पद्धति का अनुकरण करती है जो विश्व का प्रथम संस्कृत नाटक काव्य माना जा सकता है। अत: इस नाटक काव्य के अन्तर्गत आई हुई २७८ भिन्न-भिन्न कारिकाओं का (काव्यों का) पृथक् रूपेण संकलन कर ग्रन्थ का रूप देना नाटक काव्य-प्रणाली को समाप्त-लुप्त करना है जो इष्ट नहीं है। तथापि हमने इन कारिकाओं का पृथक् जो पद्यानुवाद किया है, उसका कारण भिन्न है। उसका स्पष्टीकरण यहीं आगे करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनायें बहुत प्रौढ़ मानी जाती हैं। एक प्रवचन सार, दूसरा पंचास्तिकाय और तीसरा समयसार। इन्हीं तीन रचनाओं पर पू. अमृतचन्द्र सूरि ने विशद्-संस्कृत टीकायें लिखी हैं जो भाषा की दृष्टि से बहुत क्लिष्ट बन पड़ी है और शब्दान्वयी नहीं होने से प्रत्येक पाठक की, मूल तक गति नहीं हो पाती है। इन्हीं समयसार आदि पर पूज्य जयसेन आचार्य कृत टीकायें, जो शब्दान्वयी है, उपलब्ध होती हैं, अत: सुगम सरस होने से मूल ग्रन्थों की कली-कली खोलती है। कुन्दकुन्द से परिचय कराती है। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभय टीकाओं में मूल गाथाओं की संख्या समान नहीं मिलती।

पूज्य आ. अमृतचन्द्र की टीकाओं में कम और आचार्यवर्य जयसेनजी की टीकाओं में अधिक। (बहुत कुछ विचार करने के उपरान्त भी रहस्य खुल नहीं रहा था) किन्तु जब प्रवचन-सार की चूलिका अवलोकन कर रहा था, उस समय एक विशेष प्रसंग पर ध्यान गया-वह प्रसंग है "स्त्री-मुक्ति निषेध का"। वहाँ पर एक साथ १०-१२ गाथायें छूटी है जिन पर आ. अमृतचन्द्र सूरिजी की टीका उपलब्ध नहीं होती। जबकि उन सभी प्रांसगिक गाथाओं की टीका आ. जयसेनजी ने लिखी है। ज्ञात होता है कि आ. अमृतचन्द्रजी को स्त्री मुक्ति निषेध का प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आगे जाकर उभय टीकाओं की समाप्ति पर क्रमश: दो प्रशस्तियां भी मिलती है। आ. अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका सम्बन्धी जो प्रशस्ति लिखी गई है, उसमें काष्ठा संघ की परम्परा का ज्ञान कराते हुये आ. श्री जयसेनजी को मूल संघ के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार उभय प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि आ. श्री जयसेनजी मूल संघ के और अमृतचन्द्र सूरिजी काष्ठा संघ के सिद्ध होते हैं। टीकागत गाथायें कम बढ़ क्यों ? इस विषय की अन्वेषणा ने मुझे संघ निर्णय कराया। इससे एक नवीन विषय उपलब्ध हुआ।

मनोगत भावों को भाषा का रूप देना तो कठिन है ही, उन्हें लेखबद्ध करना उससे भी कठिन है। भाषा को काव्य के सांचे में ढ़ालना तो कठिन से कठिनतर कार्य है। प्रत्येक लेखक को काव्य कला प्राप्त नहीं होती। काव्य-कला निष्णात लेखनी से, काव्य के नियमों का उल्लंघन किये बिना, भाषा एक विशेष लय में ढ़लती जाती है और वही काव्य बनता है। श्राव्य बनता है। सामान्यत: पद्यात्मक रचना को ही काव्य संज्ञा प्राप्त है। किन्तु काव्य का यह सही लक्षण नहीं है। कवे: कृति: काव्यम्। कवि की प्रत्येक कृति काव्य हैं। चाहे गद्य हो, चाहे पद्य वह काव्य है जिससे पर्याप्त मात्रा में लय-ध्वनियां फूटती हों। आत्म-ख्याति भी एक अनुपम काव्य है जो अध्यात्म रस से भरपूर है। इस काव्य में, नाटक की पद्धति होने से, प्रत्येक अधिकार में कुछ पद्य काव्य भी हैं जो काव्य-रसिक-पाठक के चंचल मन को अविचल बनाते हैं और अध्यात्म की गहराइयों में सहज ही ले जाते हैं। उन पद्य काव्यों की संख्या २७८ है। इन्हीं का संकलन आज वर्तमान में कलशा के नाम से ख्याति प्राप्त है। किन्तु ये भिन्न-भिन्न छन्दों-बन्धनों से अलंकृत हैं। कहीं अनुष्टप आर्या, द्रुतविलंबित आदि छन्द हैं, तो कही मन्दाक्रान्ता, शार्दूल, शिखरिणी बसन्ततिलका, स्रग्धरा, मालिनी आदि छन्द हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य श्री को केवल छन्द शास्त्र का ही ज्ञान नहीं, अपितु उन पर अधिकार भी है।

लयात्मक काव्य का (अतुकान्त) आविष्कार

कुछ दिनों तक इस कलश का प्रतिदिन पाठ भी किया करता था। फलस्वरूप कुछ काव्य कण्ठस्थ भी हुए थे। किन्तु १८८ वां काव्य, जिसमें यद्यपि लय की धारा प्रवाहित है, कण्ठस्थ होना तो दूर रहा, किन्तु कण्ठ को ही पकड़ने लगा, लगा मुझे, इस काव्य में अवश्य दोष है या मुझे इस छन्द का ज्ञान नहीं है। तब भिन्न-भिन्न संस्थाओं से प्रकाशित समयसार का एवं कलशों का अवलोकन प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ भी हाथ नहीं लगा। एक दिन निर्णय सागर मुद्रणालय से मुद्रित प्रथम गुच्छक का अवलोकन कर रहा था। तब प्रासंगिक काव्य को संख्या क्रम में तो स्थान मिला था, परन्तु इस काव्य के सम्मुख प्रश्नार्थक चिन्ह अवश्य लगा था तब लगा कि इस काव्य में कुछ ना कुछ रहस्य अवश्य है। इसी वर्षा योग की बात है, सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि पर डा. पन्नालालजी साहित्याचार्य से भी इस काव्य के सम्बन्ध में चर्चा हुई। आपने भी यह कहा कि आज तक इसके सम्बन्ध में कुछ निर्णय नहीं हुआ कि यह गद्य है या पद्य और कुछ ऐसे ही प्रकरण हरिवंश आदि पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। पंडितजी के विचार सुनकर और भी अभिरुचि बढ़ गई कि इस काव्य के सम्बन्ध में सही-सही निर्णय लेना ही होगा। अत: इस ओर अविरल चिन्तन की धारा चलती ही रही। उसी का यह सुफल मानता हूँ कि आकस्मिक, गत तीन-चार वर्षो पूर्व की बात स्मृति में उतर आई। वह भी "निराला" की अनामिका और तार सप्तक अज्ञेय का संपादन। इन कृतियों में भी भाषा न तो गद्य में ढली है और न तो छन्दों-बद्ध पद्य में सब बन्धनों से मुक्त, स्वतन्त्र। किन्तु भाषा में उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता नहीं, एक लय बद्ध-धारा में भाषा अपनी सहज गति से प्रवाहित है। यद्यपि सर्वप्रथम इन कृतियों का हिन्दी साहित्य क्षेत्र में समादर नहीं हुआ, तथापि नूतन-आविष्कार होने से दिनों-दिन लोकप्रियता बढ़ती गई और ये कृतियां विशेष सम्मानित हैं इसीलिए निराला आदि कवियों को हिन्दी कवि-जगत् लयात्मक नूतन काव्यों के आविष्कर्ता स्वीकार करता है।

इससे यह पूर्ण निर्णय होता है कि प्रासंगिक कलशा काव्य सदोष नहीं किन्तु निर्दोष, एक लयात्मक काव्य है जो हिन्दी लयात्मक काव्यों की अपेक्षा प्राचीनतम है। ऐसी स्थिति में आ. पूज्य अमृतचन्द्रजी संस्कृत-लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता हैं। अत: केवल जैन समाज के लिए ही नहीं अपितु दिगम्बर साधुओं के लिए भी यह गौरव का विषय है।

ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। वह आत्मा से किसी भी तरह कभी पृथक् हो नहीं सकता। उसका कार्य केवल ज्ञेय-भूत पदार्थों को जानना है ज्ञेय भूत पदार्थ स्व भी हो सकता है पर भी। किन्तु समयसार में, आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ज्ञान और तद्वान ज्ञानी की स्तुति की गई है। वह ज्ञान सामान्यत: तीन प्रकार का है। शब्द-ज्ञान, अर्थ ज्ञान और ज्ञानाभूति। जैसाकि 'आत्मा' इस शब्द का स्वर व्यंजन के साथ ज्ञान होना, शब्द ज्ञान है - अर्थात् इस ज्ञान के साथ अर्थ ज्ञान और ज्ञानानु-भूति का सम्बन्ध नहीं रहता। केवल तोते के समान 'आत्मा' 'आत्मा' रटना होता है। इस ज्ञान के उपरान्त, अर्थ ज्ञान होता है। यह पदार्थ के स्वरूप, लक्षण, गुण धर्म के सम्बन्ध में परोक्ष रूप ज्ञान कराता है। जैसेकि आत्मा अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है इत्यादि। इन दोनों ज्ञानों के साथ आत्म पदार्थ सम्बन्धी यथार्थ श्रद्धान तो हो सकता है, किन्तु तदनुभूति का कोई नियम नहीं है। हां, प्राप्त श्रद्धान के बल पर ही उसकी यात्रा ज्ञानानुभूति के लिए होगी। ऐसी ज्ञानानुभूति जब तक परिग्रह एवं प्रमाद-दशा रहेगी तब तक केवल गृहस्थ को ही नहीं अपितु दिगम्बर मुनियों के लिए भी प्राप्त नहीं होगी। परिग्रहवान को भी यदि ज्ञानानुभूति (आत्मानुभूति) का लाभ हो जाये तो कैवल्य प्राप्ति भी होना चाहिए, क्योंकि कैवल्य का कारण ही ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति है। अत: गृहस्थ दशा में ज्ञानानुभूति मानना केवल्य ज्ञान को प्रकारान्तर से उसी दशा में मानना है। यह महान दोष है एवं सिद्धान्त विरुद्ध है संप्रति ऐसे भी अध्यात्म प्रेमी बन्धु हैं जो शब्द-ज्ञान एवं अर्थ-ज्ञान भर को ज्ञानानुभूति-आत्मानुभव मान कर विषय वासना में आपाद-कण्ठ डूबे हैं और बताते हैं कि विषय-वासना तो चारित्र-मोहनीय का परिणाम है। हम तो ज्ञान में व्यस्त हैं, मस्त हैं। एकान्त से उनका भी यह कहना दोषपूर्ण नहीं है क्योंकि समय-सार ही एक ऐसा ग्रंथ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान भी उसके सही-सही अर्थ से भाव से वंचित रह जाते हैं। आज से वर्षों पूर्व की बात है कि समयसार का गहन अध्ययन करते हुए भी पं. कविवर बनारसीदासजी बिना रस के ही रहे। उन्हीं के शब्दों में देखिए!!

करनी को तो रस मिट्यो आयो न निज को स्वाद।
भई बनारसी की दशा जैसो ऊंट को पाद॥

समयसार, समयसार कलश आदि इन ग्रन्थों में, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि का भोग, निर्जरा का कारण, इत्यादि प्रयोगों का बाहुल्य है। अत: पाठक सहज ही यह निर्णय ले लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गृहस्थावस्था में भी सम्भव है। अत: पूर्वकृत-कर्मों की निर्जरा होगी ही। भोग भले, भोगते रहो,

इससे कुछ होने वाला नहीं है इत्यादि। इससे विदित होता है कि पं. बनारसीदासजी परम्परा अभी अबाधित चल रही है। बुद्धिमानों को यह विचार करना चाहिए कि भोग निर्जरा कारण हो तो बन्ध का कारण क्या होगा? और 'सम्यग्दृष्टि का भोग' निर्जरा का कारण है तो कौन से सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है? क्योंकि शुभोपयोग में आया हुआ सम्यग्दृष्टि जब देव गुरु आदि आराध्यों की आराधना करता है तब उसका भी उपयोग बन्ध का कारण है, ऐसा आगम में उल्लेख मिलता है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक के पूजन आदि आवश्यक तो बन्ध का कारण और सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण, यह किस दशा में?

बन्धुओं! इन समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों में वीतरागी सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है और वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग विज्ञान ज्ञानानुभूति या आत्मानुभव स्वीकार किया है। अत: ये रत्नत्रय की निधियां अपरिग्रही नि:संग दिगम्बर मुनियों में ही उपलब्ध हो सकती हैं। उनका जो पूर्व कर्म के उदय से अनिच्छापूर्वक पंचेन्द्रिय विषयों का भोग भोगना होता है वह निर्जरा का कारण होता है रागपूर्वक भोग तो केवल बन्ध का ही कारण है।

अत: गृहस्थ दशा में राग के साथ भोगानुभूति तो संभव है किन्तु ज्ञानानुभूति, उपयोगानुभूति तो त्रिकाल असंभव। हां ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति ही उपादेय है, ऐसी भावना वह गृहस्थ सराग सम्यग्दृष्टि संध्याकालीन सामायिकों में भा सकता है, कर सकता है, करता ही है, किन्तु भावना और अनुभूति, इस दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर जल के चिन्तन में और जलपान में। अस्तु!

उसी विषय को पुष्ट एवं स्पष्ट करने वाले प्रसंग कलशा का अनुवाद देखिए!
ज्ञान बिना, रट निश्चय, निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया-कलापि भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे।
प्रमत बन कर कर्म न करते अकम्प, निश्चल शैल रहें,
आत्म-ध्यान में लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पे तैर रहे॥१११॥

वीतराग-विज्ञान को स्वीकार किए बिना विषय-कषाय रूपी दलदल में फंसे हुए, अपने आपको ज्ञानी मानने वाले, दम्भी निश्चय-वादी, केवल निश्चय की दिन रात रट लगाते लगाते डूब गये अर्थात् संसार समुद्र को पार नहीं कर पाये। उसी प्रकार वीतराग की भूमिका का बहि निर्वाह करने वाला-दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे मुनि, जो मात्र बाह्य क्रिया काण्ड में दिन रात लीन हैं, वे भी

भव-कूल-किनारा नहीं पाये। डूब गये। और संयम से भयभीत होने वाले भी संसार सागर में डूब गये ! किन्तु ख्याति-पूजा-लाभादिक की वांछा नहीं रखने वाले सभी प्रकार के प्रमादों से दूर, अप्रमत दशा का अनुभव करते हुए निर्विकल्प-समाधि में लीन, पर्वत के समान निश्चल, आत्मानुभूति के बल पर वीतरागी ज्ञानी मुनिराज तैर रहें हैं। वे अब संसार-सागर में डूब नहीं सकते।

ऐसे ही अनेक प्रसंग शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव में भी उपलब्ध होते हैं। यथा-

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः करुते मूढः स वन्ध्या सुत शेखरम् ॥

आकाश के फूलों से वन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा (मुकुट) बनाने का प्रयास करने वाला जैसा मूर्ख माना जाता है, वैसा ही रत्नत्रय अर्थात महाव्रत को स्वीकार किए बिना जो आत्मध्यान की इच्छा करता है वह मूर्ख माना जाता है।

अनिषिध्याक्ष संदोहं यः साक्षात् मोक्षमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धि स शिरसा महीं परम् ॥

इन्द्रिय-दमन किये बिना, जो व्यक्ति मोक्ष-ध्यान के फल को प्राप्त करने में उद्यत हुआ है वह उसी तरह हास्य का पात्र है जिस तरह कोई मूढ़-मति-हीन, मस्तक के बल पर पर्वत को फोड़ने में रत है। यह निश्चित है कि पर्वत के बदले में उसका मस्तक ही फूटेगा।

अतः वीतराग स्वसंवेदन, वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण, शुद्ध ज्ञान चेतना, शुद्धात्मानुभूति, निर्विकल्प समाधि, आत्मा-ध्यान आदि, इस अपूर्व निधियों का अधिकारी-स्वामी कौन हो सकता हैं यह गूढ़ रहस्य उद्घाटित हो इसी भावना से कलशा का पृथक रूपेण भावानुवाद (पद्यानुवाद) किया है। किन्तु अब अनुभव कर रहा हूँ कि इन विषयों को और स्पष्ट करने हेतु कलशा, भले ही छोटा हो, परन्तु भाष्य नितान्त आवश्यक है। देखो !! समय पर !!! सम्भावना है !

प्रेरणा

सर्व सेवा संघ, वाराणसी से प्रकाशित समणसुतम् का पद्यानुवाद "जैन गीता" के नाम से जो किया है, उसी पूर्वार्द्ध की पाँडुलिपि सतना में पूर्ण की। उसे देख कर स्थानीय धर्म-प्रेमी श्री धीमान् नीरजजी ने कहा कि जैन गीता को पूर्ण करने के उपरान्त हिन्दी के प्रचलित छन्द में कलशा का पद्यानुवाद हो तो एक नई चीज हम लोगों को उपलब्ध होगी। उत्तर में मैंने और कुछ नहीं कहा देखो !!! समय पर जो बन जाये !! अभी तो जैन गीता पूर्ण करना है।

उसी समुचित प्रेरणा का यह सुफल है कि "जैन गीता" को सिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर पर पूर्ण करने के उपरान्त, उसी पवित्र स्थान पर, ग्रन्थराज समयसार का भी पद्यानुवाद "कुन्द कुन्द का कुन्दन" के नाम से पूर्ण किया। आज यह अध्यात्मरस से भरपूर कलशा का पद्यानुवाद "निजामृत-पान" के रूप में प्रस्तुत है जो "मेरी-भावना" के लय पर है तथा इस छन्द का नाम आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज की पुण्य स्मृति में ज्ञानोदय रखा है। हां ! यह अनुवाद कहीं-कहीं पर शब्दानुवाद बन पड़ा, तो कहीं-कहीं पर भाव निखर आया है। आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि "निजामृत पान" का पान कर भव्य मुमुक्षु पाठकगण भावातीत ध्यान में तैरते हुए अपने आप को उत्सर्गित पायेंगे, चेतना में समर्पित पायेंगे।

यह सब स्व. वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराजश्री के प्रसाद का परिपाक है । परोक्ष-रूप से उन्हीं के अभय चिन्ह-चिन्हित-युगल कर-कमलों में "निजामृतपान" का समर्पण करता हुआ .....।

गुरुचरणारविन्द चंचरीक
ॐ शुद्धात्मने नमः
ॐ निरंजनाय नमः
ॐ जिनाय नमः
ॐ निजाय नमः

- आचार्य विद्यासागर

वीर जयन्ती
(चैत शुक्ला त्रयोदशी)
वीर सं. २५०४
दमोह (कुण्डलपुर)

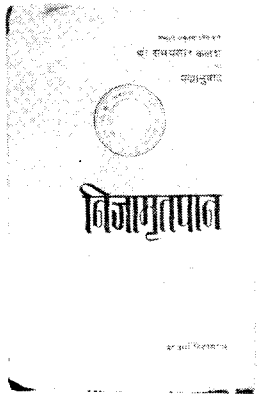

निजामृत पान

मूल : समयसार कलश (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य अमृतचंदजी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

निजामृतपान

मंगलाचरण

दोहा:

देवशास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पंचम-गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चांदनी, से जिन-धुनि, अति शीत ।
उसका सेवन मैं करूं, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढ़ाय ।
यह मुनि, मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय ? ॥३॥

श्री कुन्द कुन्दाय नम:

''कुन्द कुन्द'' को नित नमूं, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री अमृतचन्द्राय नम:

''अमृतचन्द्र'' से अमृत हैं, झरता जग अपरूप ।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नम:

तरणि ''ज्ञानसागर'' गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

अमृत-कलश का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

ज्ञानोदय-छन्द

मणिमय, मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है ।
तमो रजो अरु सतोगुणों के गण को क्षण में हरती है ।
समय समय पर समय-सार मय चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृणमय जड़मय मणिका को ॥१॥

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुण गण हैं,
मोह मान मद माया मद से हरित हुए हैं ये जिन हैं ।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग में तब लौं हो,
रवि शशि उडुगण लसते रहते विस्तृत नभ में जब लौं हो ॥२॥

समय सार की व्याख्या करता, चाहूँ कुछ नहिं विरत रहूँ,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज में निरत रहूँ ।
मोह भाव मम बिखर-बिखर कर क्षण-क्षण कण-कण मिट जावे,
पर परिणतिका मूल यही बस मोह मूल झट कट जावे ॥३॥

स्यात् पद भूषित, दूषित नहिं है जिन वच मुझे सुहाते हैं,
उभय-नयों के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते हैं ।
जिन वच रमता, सकल मोह मुनि बन वन में वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया ॥४॥

निर्विकल्पमय समाधि जब तक साधक मुनिगण नहिं पाते,
तब तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते ।
निश्चय नयमय नभ में लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर, प्रभु आश्रय तो जुगुनू ज्योत ॥५॥

विशुद्ध नय का विषय भूत उस विरागता का पूरा-पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल संग से सूना-पन ।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजामृत है प्यारा,
वही शरण है वहीं शरण लूँ तज नव-तत्त्वों का भारा ॥६॥

निर्मल निश्चय-नय का तब-तक आश्रय ऋषि अवधारत हो,
अन्तर्जगती-तल जब तक जग मग जग मग जागृत हो ।
फलतः निश्चित लगता नहीं वो मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्त्वों में भला ढला हो चला न जाता उजला-पन ॥७॥

नव तत्त्वों में ढल कर चेतन मृण्मय तन के खानन में,
अनुमानित है चिर से जैसा कनक कनक पाषाणन में ।
वही दीखता समाधि रत को शोभित द्युतिमय शाश्वत है,
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आतम भास्वत है ॥८॥

निजानुभव का उद्भव उरमें विराग मुनि में हुआ तभी,
भेदभाव का खेदभाव का प्रलय नियम से हुआ तभी ।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहीं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण गुप लुप छुप जाते ॥९॥

आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित है अरहन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणों गुणवन्ता ।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आतम प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उरमें हो उदित उजाला उपजाता ॥१०॥

क्षणिक भाव है तणिक काल लौं ऊपर ऊपर दिख जाते,
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहिं टिक पाते ।
निजमें निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोकालोक ॥११॥

विशुद्ध नय आश्रय ले होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिनकी बतलाती ।
जान मान कर इस विध तुमको निजमें रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरंतर प्यारा परितः पूर्ण प्रकाशित है ॥१२॥

आत्मध्यान में विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोड़े झट मुनिजन ।
शाश्वत शिव बन शिव सुख पाते लोक अग्र पर बसते हैं,
निज अनुभव से जाने जाते कर्म-मुक्त, ध्रुव लसते हैं ॥१३॥

चिन्मय गुण से परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एकसी लवण डली सी अति प्यारी ।
सहज स्वयं बस लस लस लसती ललित-चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस समता-रस की वह प्याली ॥१४॥

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा आतम नित्य निरंजन है,
यदपि साध्य साधक वश द्विविधा तदपि एक मुनि रंजन हैं ।
ऋद्धि सिद्धि को पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो, करलो चंचल मन को अचल अहा ॥१५॥

द्रव्य दृष्टि से निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टि बनती दिखता अनेक नैकाकारतना ।
चंचल मन में वही उतरता विद्यादृगव्रत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियों को सचमुच चिति से भरा हुआ ॥१६॥

दृग-व्रत बोधादिक में साधक नियम रूप से ढलता है,
पल-पल-पग-पग आगे बढ़ता अविरल शिवपथ चलता है ।
एक यदपि वह तदपि इसी से बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक हैं ॥१७॥

पूर्ण रूप से सदा काल से व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान-ज्योति से विलस रहा है एक आप से रचित रहा ।
वैकारिक-वैभाविक भावों का निज आतम नाशक है,
इसीलिये वह माना जाता एक भाव का शासक है ॥१८॥

एक स्वभावी नैक स्वभावी द्रव्य गुणों से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्ष धाम नहीं मिलता है ।
समकित विद्याव्रत से मिलती मुक्ति हमें अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर हैं ॥१९॥

रत्नत्रय में ढली घुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह बहती रहती जीवित चेतन धारा है ।
कुछ भी हो पर स्वयं इसी में अवगाहित निज करता हूँ,
नहिं-नहिं इस बिन शांति, तृप्ति हो, आत्म-पाप सब हरता हूँ ॥२०॥

स्वपर बोध का मूल स्वानुभव जहाँ जगत प्रतिबिम्बित हो,
जिन-मुनिवर को मिला स्वतः या सुन गुरु वचन अशंकित हो ।
पर न विभावों से वे अपना कलुषित करते निजपन है,
कई वस्तुयें झलक रही हैं तथापि निर्मल दर्पण है ॥२१॥

मोह मद्य का पान किया चिर अब तो तज जड़मति ! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूंट लें मुनि जन को जो अति भाई ।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतन तन में ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय मन में धारो, धारो मन में दैन्य नहीं ॥२२॥

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन में,
मर जा "पर कर निजानुभव कर" घड़ी घड़ी मत रच तन में ।
फलतः पल में परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज-धज निजको निज से निज घर जायेगा ॥२३॥

दशों दिशाओं को हैं करते स्नपित सौम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्त्र रवि शशियों को कुन्दित करते आभा से ।
हित मित वच से कर्ण तृप्त हैं करते दश-शत-अठ गुण-धर,
रूप सलोना धरते, हरते जन मन जिनवर हैं मुनिवर ॥२४॥

...पुर नभ का चुम्बन लेता ढलती वन-छवि वसुधातल,
...री खाई मानो पीती निरी तलातल रासातल ।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहिं पुर-पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जड़मय पुर महिमा ॥२५॥

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग रग में है रूप भरा,
नय हो सागर सम गंभीर शम यम दम का कूप निरा ।
...पी तन का "रूप रूप" भर तन से जिनवर हैं न्यारे,
...तन यह तन की स्तुति है मुनिवर कहते हैं प्यारे ॥२६॥

तन की स्तुति से चेतन-स्तुति की आपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहिं तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ-मथनी है ।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अतः ऐक्य तन चेतन में वो नहीं सर्वथा किंचित है ॥२७॥

स्वपर तत्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड़ काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया बन निर्भय ।
स्वरस रसिक वर बोध विकासित क्या नहिं उस मुनिवर में हो,
भागा बाधक ! साधा साधक ! साध्य सिद्ध बस पल में हो ॥२८॥

संयम बाधक सकल संग को मन वच तन से त्याग दिया,
बना सुसंयत, अभी नहीं पर प्रमत्त पर में राग किया ।
तभी सुधी में निजानुभव का उद्भव होना संभव है,
पर भावों से रहित परिणती अविरत में ना संभव है ॥२९॥

सरस स्वरस परिपूरित परितः सहज स्वयं शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिव सुख केतन का ।
अतः नहीं है कभी नहीं है मान मोह-मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हूँ द्वैत नहीं अद्वैत अकेला ॥३०॥

राग द्वेष से दोष कोष से सुदूर शुचि उपयोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा ।
निश्चय रत्नत्रय का बाना, धरता नित अभिराम रहा,
विराम-आतम उपवन में ही करता आठो याम रहा ॥३१॥

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिनमें,
उज्ज्वल उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन में ।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमें अवगाहन करलो,
मोह ताप संतप्त हुए हो हृदय ताप को तुम हरलो ॥३२॥

भव बन्धन के हेतु भूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद भिन्नता भविजन को है दर्शाता ।
चपल पराश्रित आकुल नहिं पर उदार ध्रुव धीर शांत आकूल,
हरा भरा निज उपवन में नित ज्ञान खेलता सुख संकुल ॥३३॥

राग रंग से अंग अंग से शीघ्र दूर कर वच तन रे !
सार हीन उन जग कार्यों से विराम ले अब आय ! मन रे !
मानस-सर में एक स्वयं को मात्र मराल छद्म देख जरा,
जड़ से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा ॥३४॥

तन मन वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
संवेदन से शून्य जड़ों का अदय बनो संहार करो ।
आप आप का अनुभव करलो अपने में ही आप जरा,
अखिल विश्व में सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आत्मखरा ॥३५॥

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत शत वन्दन बार सदा ।
असार-मय संसार क्षेत्र में निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहाँ तहाँ है मुझ से पर हैं निरे निरे ॥३६॥

वर्णादिक औ रागादिक ये पर हैं पर से हैं उपजे,
समाधि रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शुद्ध सजे,
लहरें सर में उठती रहती झिलमिल झिलमिल करती हैं,
अन्दर तल में मौन-छटा पर निश्चित मुनि मन हरती हैं ॥३७॥

जग में जब जब जिसमें जो जो जन्मत हैं कुछ पर्यायें !
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड़ दो शंकायें ।
बना हुआ जो कांचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
निज उसे कांचनमय लखते, कभी न असि को, दोष रहा ॥३८॥

वर्णादिक हैं रागादिक हैं गुणस्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी ।
इसीलिए ये रागादिक हैं मल हैं केवल पुद्गल हैं,
शुद्धात्म तो जड़ से न्यारा ज्ञान पुंज है निर्मल हैं ॥३९॥

मृण्मय घटिका यदपि तदपि वह घृत की घटिका कहलाती,
घृत संगम को पाकर भी घृतमय वह नहिं बन पाती ।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्य किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहिं होता ॥४०॥

आदि हीन है अन्तहीन है अचल अलिंग है अचल बना,
आप आप में नाना नाता प्रकट रूप में अमल तना ।
स्वयं जीव ही सहज रूप में चम चम चमके चेतन है,
समयसार का विश्व सार का शुचिमय शिव का केतन है ॥४१॥

वर्णादिक से रहित सहित हैं धर्मादिक हैं ये पुद्गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा बताया जिनका निर्मल अन्तस्तल ।
अमूर्तता की स्तुति करता पर जड़ आतम लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अतः है आतम लक्षण चख ! साता ॥४२॥

निरा जीव है अजीव न्यारा अपने अपने लक्षण से,
अनुभवता ऋषि जैसा हंसा जल जल पय पय तत् क्षण से ।
फिर भी जिसके जीवन में हा ! सघन मोह तम फैला है,
भाग्यहीन वह कुधी भटकता भव-वन में न उजेला है ॥४३॥

बोध-हीन उस रंग मंच पर सुचिर काल से त्रिभुवन में,
रागी द्वेषी जड़ ही दिखता रस लेता नित नर्तन में ।
वीतराग है वीत दोष हैं जड़ से सदा-विलक्षण हैं,
शुद्धात्म तो शुद्धात्म है चेतन जिसका लक्षण है ॥४४॥

चेतन तन से भिन्न भिन्न नहिं पूर्ण रूप से हो जब लौं,
कर, कर, कर, कर रहो चलाते आरा ज्ञानमयी तब लौं ।
तीन लोक को विषय बनाता ज्ञाता दृष्टा निज आतम,
पूरण विकसित चिन्मय बल से निर्मलतम हो परमातम ॥४५॥

जीवाजीवाधिकार: समाप्त:

दोहा

रग रग में चिति रस भरा खरा निरा यह जीव ।
तन धारी दु:ख सहत, सुख तन बिन सिद्ध सदीव ॥१॥

प्रीति भीति सुख दुखन से धरे न चेतन-रीति ।
अजीव तन धन आदि ये तुम समझो भव-भीत ॥२॥

कर्तृकर्माधिकार

चेतनकर्ता मैं क्रोधादिक कर्म रहें मम "जड़" गाता,
उसके कर्तृ कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता ।
लोकालोका-लोकित करता ज्ञान भानु द्युति पुंज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है, दीन नहीं दृग मंजु रहा ॥४६॥

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावों विदारता,
ज्ञान दिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणें सुधारता ।
कर्तापन तम कुकर्मपनतम फिर क्या वह रह पायेगा ?
विधि बंधन का गीत पुराना पुद्गल अब ना गायेगा ॥४७॥

जड़मय पुद्गल परपरिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बनकर मुनि जब सहज ज्ञान में निरत तना,
ऊपर उठ सुख दुख से तजता कर्ता कुकर्म-कारणता,
ज्ञाता दृष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोत्तम बनता, ॥४८॥

व्याप्यपना औ व्यापकता वह परमें नहिं निज द्रव्यन में,
व्याप्य और व्यापकता बिन नहिं कृर्तकर्म पर-जीवन में
बार बार मुनि विचार इस विध करें सदा वे जगा विवेक,
पर कर्तापनतजते लसते अंधकार का भगाऽतिरेक ॥४९॥

ज्ञानी निज पर परिणति लखता लखता नहीं पुद्गल है,
निरे निरे हैं अत: परस्पर मिले न चेतन पुद्गल हैं ।
जड़ चेतन में कर्तृ कर्म का भ्रम धारे जड़ शठ तब लौं,
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हें नहिं झट जब लौं ॥५०॥

स्वतंत्र होकर परिणमता है होता स्वतंत्र कर्ता हैं,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन, विधि हर्ता हैं ।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ में है वहीं क्रिया,
वैसे तीनों एकमेक हैं यथार्थ से सुन सही जिया ! ॥५१॥

सतत एक ही परिणमति है इक का इक परिणाम रहा,
इक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्व अभिराम रहा ।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल-गुण धारक-जिनवर की वाणी इस विध गाती है ॥५२॥

कदापि मिलकर परिणमते नहिं, दो पदार्थ नहिं, संभव हो,
तथा एक परिणाम न भाता दो पदार्थ में उद्‌भव हो ।
उभय-वस्तु में उसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न-भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती ॥५३॥

एक वस्तु के कर्ता दो नहिं इसविध मुनिगण गाते हैं,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहिं पाये जाते हैं ।
एक वस्तु की परिणितियां भी दो नहिं कदापि होती है,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहिं नहिं होती है ॥५४॥

भव भव भव-वन भ्रमता भ्रमता जीव भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख सहता-मदतम-तम में निज द्रोही ।
वीतरागमय निश्चय धारे एक बार यदि द्युति शाला,
फैले फलतः प्रकाश परितः कर्म बंध पुनि नहिं स्वारा ॥५५॥

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने अपने भावों को,
पर भी करता पर भावों पर, पर ना आतम भावों को ।
सचमुच सब कुछ परका पर है आतम का बस आतम है,
जीवन भी संजीवन पीवन आतम ही परमातम है ॥५६॥

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्‌गल में रमती है,
गज सम गन्ना खाती पर, ना तृण को तजती भ्रमती है ।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति ! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहत भी विफल रही ॥५७॥

रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि में भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग मरीचिका में पीने भगते, मर जाते ।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पों का भर्ता,
यद्यपि ज्ञान घन व्याकुल बनता तदपि भूल में पर कर्ता ॥५८॥

सहज ज्ञानसे स्वपर भेद को परम हंस यह मुनि नेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हंसा लख लेता ।
केवल अलोल चेतन गण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर ना करता मुनि बन मुनिपन यही निभाता है ॥५९॥

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लवण अन्न में ज्ञान कराता यह निश्चय ।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक से रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्तृपन ज्ञान मूल हो उदित अहा ॥६०॥

मूढ़ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता धरे ज्ञान की स्थिरता है ।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्ता अपने भावों का,
परंतु कदापि आतम नहिं है कर्ता परके भावों का ॥६१॥

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वयं ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर यह ज्ञान छोड़कर पर को करता आतम है ।
पर भावों को आतम कर्ता इस विध कहते व्यवहारी,
मोह मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव-धारी ॥६२॥

चेतन आतम यदि जड़ कर्मों को करने में मौन रहे,
फिर इन पुद्‌गल कर्मों के हैं कर्ता निश्चित कौन रहे ।
इसी मोह के तीव्र वेग के क्षयार्थ आगम गाता है,
पुद्‌गल, पुद्‌गल-कर्मों का कर्ता जड़ से जड़ का नाता है ॥६३॥

स्वभाव भूता परिणति है यह पुद्गल की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब इस विध निज में जड़ है विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६४॥

स्वभाव भूता परिणति यह है चेतन की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब इस विध निज में चेतन विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६५॥

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा करण कौन रहा है क्यों ना हो अघ आलय है ।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूढ़पने से रंजित हों,
क्यों ना होते गत मल निर्मल, ज्ञान पने से वंचित हो ॥६६॥

राग रंग सब तजते नियमित ज्ञानी मुनि-ले निज आश्रय,
अतः ज्ञान जल सिंचित सब ही भाव उन्हीं के हो, भा-मय ।
राग रंग में अंग संग में निरत अतः वे अज्ञानी,
मूढ़पने के भाव सुधारे कलुषित पंकिल ज्यों पानी ॥६७॥

निर्विकल्प मय समाधिगिरि से गिरता मुनि जब अज्ञानी,
प्रमत्त बन अज्ञान भाव को करता क्रमशः नादानी ।
विकृत विकल्पों विभाव भावों को करता तब निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो है सुख से वंचित है ॥६८॥

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्ण रूप से विमुख हुए,
निज में गुप लुप छुपे हुए हैं निज के सम्मुख प्रमुख हुए ।
विकल्प जल्पों रहित हुए हैं प्रशांत मानस धरते हैं,
नियम रूप से निशिदिन मुनि - "निज अमृत पान" वे करते है ॥६९॥

इक नय कहता जीव बंधा है, इक नय कहता नहीं बंधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुखी जगत है तभी सदा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७०॥

भिन्न-भिन्न नय क्रमशः कहते आत्मा मोही निर्मोही
इस विध दृढ़तम करते रहते अपने अपने मत को ही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७१॥

इक नय मत है आत्मा रागी इक कहता है गत रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल-केतन है,
स्वानुभवा का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७२॥

इक नय कहता आत्मा द्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुख दात्री मति हो कैसी ?
पक्षपात से रहित बना है मुनिमन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७३॥

इक नय गाता आत्मा कर्ता कर्ता नहिं है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहिं मिलता पक्षपात की यह गाथा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७४॥

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहिं है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड़ में अविरल देखो वह बहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७५॥

इक नय मत में जीव रहा है, इक कहता है जीव नहीं,
पक्षपात से घिरा हुवा मन ! सुख पाता नहिं जीव वही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७६॥

जीव सूक्ष्म है सूक्ष्म नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते हैं,
इस विध पक्षपात से जड़ जन भव भव में दुःख सहते है
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७७॥

इक नय कहता जीव हेतु है हेतु नहीं है इक गाता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं पाता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७८॥

जीव कार्य है कार्य नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते,
इस विध पक्षपात जड़ करते परम तत्व को नहिं गहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७९॥

इक नय कहता जीव भाव है नहीं है इक कहता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं गहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८०॥

एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नहीं,
ऐसा चिंतन जड़ तन करते दुर्धी हुए हैं देख यहीं ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८१॥

जीव सान्त है सान्त नहीं है इस विध दो नय हैं कहते,
ऐसा चिंतन जड़ जन करते पक्षपात है पक्षपात कर दुःख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८२॥

जीव नित्य है नित्य नहीं है भिन्न-भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिन्तन पक्षपात है पक्षपात को जड़गहते ।
पक्षपात से रहित बना है, मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन-चेतन है ॥८३॥

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है, भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८५॥

जीव ज्ञेय हैं ज्ञेय नहीं है भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८६॥

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहिं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८७॥

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहिं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८८॥

जीव आज भी प्रकट स्पष्ट है प्रकट नहीं दो नय गाते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख पाते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८९॥

पक्षपात-मय-नय वन जिसने सुदूर पीछे छोड़ दिया,
विविध विकल्पों जल्पों से बस चंचल मन को मोड़ दिया ।
बाहर भीतर समरस इक रस महक रहा है, अपने को,
अनुभवता मुनि मूर्तरूप से स्वानुभूति के सपने को ॥९०॥

रंग बिरंगी तरल तरंगे क्षण रुचि सम झट उठ मिटती,
विविध नयों की विकल्प माला मानस तल में नहिं उठती ।
शतशत सहस्त्र किरण संग ले झग झग करता जग जाता,
निजानुभव के बल मम चेतन भ्रम-तम लगभग भग जाता ॥९१॥

स्वभाव भावों विभाव भावाभावों रहित रहा,
केवल निर्मल चेतनता से खचित रहा है भरित रहा ।
उसी सारमय समयसार को अनुभवता कर वंदन मैं,
विधि के प्रथम तोड़ के तड़ तड़ तड़ तड़ बंधन में ॥९२॥

निर्भय निश्चल निरीह मुनि जब पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समयसार को सहर्ष सविनय पीता है ।
पुण्य पुरुष है परम पुरुष है पुराण पावन भगवन्ता,
ज्ञान वही है दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता ॥९३॥

विकल्प मय घन कानन में चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोधरस निज घर में विवेक पथ से आ मिलता ।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज में घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से बह बह पुनि वह मिल जाता ॥९४॥

विकल्प करने वाला आत्मा कर्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर में उठता कर्म नाम वह है पाता ।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो भूषित है,
तब तक कर्तृ-कर्म-पन मल से जीवन उसका दूषित है ॥९५॥

विराग यति का कार्य स्वयं को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है ।
सुधी जानता इसीलिए मुनि कदापि विधि को नहिं करता,
कुधी जानता कभी नहीं है चूंकि निरंतर विधि करता ॥९६॥

ज्ञप्ति क्रिया में शोभित होती कदापि करोति क्रिया नहीं,
उसी तरह बस करण-क्रिया में ज्ञप्ति क्रिया वह जिया ! नहीं ।
करण क्रिया औ ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न-भिन्न हैं अतः यदा,
ज्ञाता कर्ता भिन्न-भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वतः सदा ॥९७॥

कर्म न यथार्थ कर्ता में हो नहीं कर्म में कर्ता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृ-कर्मपन सत्ता हो ?
ज्ञान ज्ञान में कर्म कर्म में अटल सत्य बस रहा यही,
खेद ! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचत रहा वहीं ॥९८॥

चिन्मय द्युति से अचल उजलती ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अंतर्जगतीतल को पूरितः उज्ज्वल कर पाती ।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता, रहता पुद्गल पुद्गल है,
ज्ञान कर्म का कर्ता नहिं है, चले न विधि में पुद्गल है ॥९९॥

इति कर्तृकर्माधिकारः समाप्तः

निज गुण कर्ता आत्म है पर कर्ता पर आप ।
इस विध जाने मुनि सभी निज-रत हो तज पाप ॥१॥

प्रमाद जब तक तुम करो पर-कर्तापन मान ।
तब तक विधि बन्धान हो हो न "समय" का ज्ञान ॥२॥

पुण्य-पाप-अधिकार

भेद शुभा-शुभ मिस से द्विविधा विधि है स्वीकृत यदपि रहा,
उसको लखता जिन अतिशय से बोध "एक विध" तदपि रहा ।
शरद चन्द्र सम बोध चंद्रमा निर्मल निश्चल मुदित हुआ,
मोह महा तम दूर हटाता सहज स्वयं अब उदित हुआ ॥१००॥

ब्राह्मणता के मद वश इक है मदिरादिक से बच जीता,
स्वयं शूद्र हूँ इस विध कहता मदिरा प्रतिदिन इक पीता ।
यद्यपि दोनों शूद्र रहे हैं युगपत् शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने हैं समझे ॥१०१॥

कर्म हेतु है पुद्गल-आश्रय पुद्गल, स्वभाव फल पुद्गल,
अतः कर्म में भेद नहीं है अभेद नय से सब पुद्गल ।
और शुभा-शुभ बंध अपेक्षा एक इष्ट है बंधन है,
अतः कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि-रंजन हैं ॥१०२॥

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव बंधन का साधक है,
मोक्ष मार्ग में इसीलिए वह साधक नहिं है बाधक है ।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिवका साधक है दुख हारक है,
वीतराग सर्वज्ञ हितंकर कहते शिव-सुख साधक हैं ॥१०३॥

पूर्ण शुभाशुभ करणी तज, बन निष्क्रिय, निज में निरत रहें,
मुनिगण अशरण नहिं पर सशरण अविरत से वे विरत रहें ।
ज्ञान ज्ञान में घुल मिल जाना मुनि की परम शरण बस है,
निशि दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस हैं ॥१०४॥

अमिट अतुल है अनुपम आतम ज्ञान-धाम वह सचमुच है,
मोक्ष मार्ग है मोक्ष धाम है स्वयं ज्ञान ही सब कुछ है ।
उससे न्यारा सारा खारा बंध हेतु है बंधन है,
ज्ञान-लीनता वही स्वानुभव शिवपथ उसको वंदन है ॥१०५॥

ज्ञान ज्ञान में स्थित हो जाता अन्य द्रव्य में नहिं भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता ।
आत्म द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्ष मार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है ॥१०६॥

कर्म मोक्ष का नियम रूप से, हो नहिं सकता कारण है,
स्वयं बन्धमय कर्म रहा है भव बंधन का कारण है ।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अतः यहाँ पर निषेध इसका करते जिन, मुनि शासक हैं ॥१०७॥

कर्म रूप में यदि ढलता है मनो ज्ञान वह भूल अहा !
ज्ञान ज्ञान नहिं हो सकता वो ज्ञानपने से दूर रहा ।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृण्मय मूर्त अचेतन है,
अतः कर्म नहिं मोक्ष हेतु नहिं-हो सकता सुख केतन है ॥१०८॥

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग में कर्म त्याज्य जड़ पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कर्दम दलदल है ।
दृग व्रत आदिक निजपन में दल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वयं सुखी तब बन पाते ॥१०९॥

कर्ता नहिं पर मोह उदय वह होता मुनि में जब तक है,
समीचीन नहिं ज्ञान कहाता अबुद्धि पूर्वक तब तक है ।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि में,
राग बंध का, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहिं पै ॥११०॥

ज्ञान बिना रट निश्चय निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया कलापी भी ये डूबे डूबे संयम से-ऊबे ।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान में लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

भ्रमवश विधि में प्रभेद करता मोह मद्य पी नाच रहा,
राग-भाव जो जड़मय जड़ से निज बल से झट काट अहा ।
सहज मुदित शुचि कला संग ले केली अब प्रारंभ किया,
भ्रम-तम-तम को पूर्ण मिटाकर पूर्ण ज्ञान शशि जन्म लिया ॥११२॥

इति पुण्यपापाधिकार

दोहा

विभाव परिणति यह सभी पुण्य रहो या पाप ।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप-पुण्य परिताप ॥१॥

पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य-फल भोग ।
पुनः पुण्य मिटता, धरो आतम-निर्मल योग ॥२॥

आस्रव-अधिकार

आस्रव भट झट कूद पड़ा है क्रुद्ध हुआ है अब रण में,
महा मान का रस वह जिसके भरा हुआ है तन मन में ।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्यधारी उस पर दृढ़ा धृति-धर है,
क्षण में आस्रव जीत विजेता यह-बल धारी सुखकर है ॥११३॥

राग रोष से मोह द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुवा है जिन आगम का भाव यही ।
नियम रूप से अभाव मय है भावास्रव का रहा वही ॥
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही ॥११४॥

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हूँ बन के जाना मुनि ध्यानी ।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड़ के ज्ञायक सही रहा ॥११५॥

सुबुद्धि पूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते हैं,
अबुद्धि पूर्वक राग मिटाने बार बार निज-छूते हैं ।
यमी ज्ञान की चंचलता को तभी पूर्णतः अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवलज्ञानी बनते निज में स्वको बिठा ॥११६॥

जिसके जीवन में वह अविरत दुरित दुःखमय जल भरिता,
जड़मय पुद्गल द्रव्यास्रव की बहती रहती नित सरिता ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इस विध हो कहते,
ऐसी शंका मन में केवल अज्ञजन भ्रमवश हो गहते ॥११७॥

उदयकाल आता नहिं जब तक, तब तक सत्ता नहिं तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते, ज्ञानी जन के उर सजते ।
पर ना नूतन नूतन विधि आ उनके मन पे अंकित हो,
रागादिक से रहित हुए हों जब मुनि पूर्ण-अशंकित हो ॥११८॥

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लांछन,
संभव हो न, असंभव ही है वह तो उज्ज्वलतम कांचन ।
वीतराग उन मुनि जन को फिर प्रश्न नहीं विधि बंधन का,
रागादिक ही बंधन कारण, कारण है मन-स्पन्दन का ॥११९॥

निर्मल-विकसित-बोध धाम मय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन का निग्रह करते रहते मुनि-जन गुण-गण के आलय,
राग मुक्त हैं रोष मुक्त हैं मुनि वे मुनि-जन-रंजन हैं,
समरस पूरित समय सार का दर्शन करते वंदन हैं ॥१२०॥

जब यति विशुद्ध नय से चिगते, उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावों निश्चित करते आत्म बोध ही तब भूले ।
विगत समय में अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्पदल,
करते, बंधते विविध विधी के बधंन से खो अनल्प बल ॥१२१॥

यही सार है समय सार का छंद यहाँ है यह गाता,
हेय नहीं है विशुद्ध नय पर ध्येय साधुका वह साता ।
तथापि उसको जड़ ही तजते भजते विधि के बंधन को,
जो नहिं मुनि जन तजते इसको भजते नहिं विधि बंधन को ॥१२२॥

अनादि अक्षय अचल बोध में धृति बांधे विधि नाशक है,
अतः शुद्ध नय उन्हें त्याज्य नहिं मुनि या मुनि जन शासक है ।
लखते इसमें स्थित मुनि निज बल आंकुचन कर बहिराता,
एक ज्ञान घन पूर्ण शांत जो अतुल अचल द्युतिमय भाता ॥१२३॥

रागादिक सब आस्रव विघटे जब निज मन्दर में अन्दर,
झांक झांक कर देखा मुनि ने दिखता झग झग अति सुन्दर ।
तीन जगत के जहां चराचर निज प्रति-छवि ले प्रकट रहें,
अतुल अचल निज किरणों सह वह बोध भानु मम निकट रहें ॥१२४॥

इति आस्रवाधिकार:

दोहा

राग-द्वेष अरु मोह से रंजित वह उपयोग ।
वसु विध-विधि का नियम से पाता दुख कर योग ॥१॥

विराग समकित मुनि लिए जीता जीवन सार ।
कर्मास्रव से तब, बचे निज में करें विहार ॥२॥

संवर-अधिकार

संवर का रिपु आस्रव को यम मन्दिर बस दिखलाती है,
दुख-हर, सुखकर वर संवर धन सहज शीघ्र प्रकटाती है ।
पर परिणति से रहित नियत नित निज में सम्यक् विलस रही,
ज्योति-शिखा वह चिन्मय निज खर किरणावलि से बिहस रही ॥१२५॥

ज्ञान राग ये चिन्मय जड़ हैं किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हें विभाजित निज बल से कर, स्व पर बोध उर देख जगे ।
उस भेद ज्ञान को आश्रय ले तम बन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान घन का रस चाखो सकल संग के हो त्यागी ॥१२६॥

धारा प्रवाह बहने वाला ध्रुव बोधन में सुरत यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध बनता तुरत दमी ।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन में तब आतम रमता है ।
पर परिणति से पर द्रव्यन में पल भर भी नहिं भ्रमता है ॥१२७॥

अनुपम अपनी महिमा में मुनि भेद ज्ञानवश रमते हैं ।
शुद्ध तत्व का लाभ उन्हें तब हो हम उनको नमते हैं ।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहे,
मोक्ष धाम बस पास लसेगा सभी कर्म चकचूर रहें ॥१२८॥

विराग मुनि में जब जब होता भवहर, सुखकर संवर है,
शुद्धातम के आलम्बन का फल कहते-दिगम्बर हैं ।
शुचि तम आतम भेद ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद ज्ञान तू इसीलिये भज जिससे जीवन खिलता है ॥१२९॥

तब तक मुनि गण अविकल अविरल तन मन वच से बस भावें,
भेद ज्ञान को, जीवन अपना समझ उसी में रम जावे ।
ज्ञान ज्ञान में सहज रूप से जब तक स्थिरता नहिं पावें,
पर परिणतिमय चंचलता को तज निज-पन को भज पावें ॥१३०॥

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे ।
भेद ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव-वन फिरते हैं,
विधि बंधन में बंधे मूढ़ जन भवदधि नहिं ये तिरते हैं ॥१३१॥

भेद ज्ञान बल शुद्ध तत्व में निरत हुवा मुनि तज अम्बर,
राग दोष का विलय किया पुनि किया कर्म का वर संवर ।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुआ है खुला हुआ है एक आप बस भास्वत है ॥१३२॥

इति संवराधिकार

दोहा

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर छाव ।
रागादिक पुनि मुनि मिटा भजते संवर भाव ॥१॥

बिन रति-रस चख जी रहे निज घर में कर वास ।
निज अनुभव-रस पी रहे उन मुनि का मैं दास ॥२॥

निर्जरा-अधिकार

रागादिक सब आस्रव भावों को निज बल से विदारता,
संवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता ।
धधक रही अब सही निर्जरा पूर्ण बद्धविधि जला-जला,
सहज मिटाती, रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला ॥१३३॥

यह सब निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि की विरागता की समता में रममानन की ।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नहीं यह विधि से बंधता बंधे असंयत पर रागी ॥१३४॥

इन्द्रिय विषयों का मुनि सेवन करता रहता है प्रतिदिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहिं पाता, रहता है रति बिन ।
आत्म ज्ञान के वैभव का औ विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहिं हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल ॥१३५॥

ज्ञान शक्ति को विराग बल को सम्यक्-दृष्टी ढोता है,
पर को तजने निजको भजने में जो सक्षम होता है ।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निज में रमता पर-रति तजता राग करे नहिं किंचित भी ॥१३६॥

दृग धारक हम अतः कर्म नहिं बंधते हमसे बनते हैं,
रागी मुनि ही इस विधि बकते वृथा गर्व से तनते हैं ।
यदपि समितियां पालें पालो फिर भी अघ से रंजित हैं,
स्वपर भेद के ज्ञान बिना वे समदर्शन से वंचित हैं ॥१३७॥

चिर से रागी प्रमत्त बनके भ्रमवश करता शयन जहाँ,
दुखकर परघर, निजघर नहिं वो जान ! खोल तू नयन अहा ।
निज-घर तो बस निज-घर ही है सुखकर है सुखकेतन है,
शुद्ध शुद्धतर विशुद्धतम है अक्षय ध्रुव है चेतन है ॥१३८॥

पद पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे दुख पद पर पद हैं,
सब पद में बस पद ही वह पद सुखद निरापद निज पद है ।
जिसके सम्मुख सब पद विलखते अपद दलित-पद आपद हैं,
अतः स्वाद्य है पेय निजीपद सकल गुणों का आस्पद है ॥१३९॥

आदि आत्मा निज अनुभव का जान ज्ञान को रख साता,
भेद भिन्नता खेद खिन्नता घटा हटाकर इक भाता ।
ज्ञायक रस से पूरित रस को केवल निशिदिन चखता है,
नीरस रस मिश्रित रस को नहिं चखता मुनि निज लखता है ॥१४०॥

सकल अर्थ मय रस पी पीकर मानो उन्मद सी निधियां,
उजल उजल ये उछल उछलती निज संवेदन की छवियां ।
अभिन्न चिन्मय रस पूरित हैं भगवन-सागर एक रहें,
अगणित लहरें उठती जिनमें इसीलिए भी नेक रहें ॥१४१॥

सूख सूखकर सोंठ भले हो-शिवपथ-च्युत व्रत भरणों से,
तपन तप्त हो तापस गिरि पे केवल जपतप चरणों से ।
मोक्ष मात्र नित निरा निरामय निज संवेदन ज्ञान सही,
ज्ञान बिना मुनि पा नहिं सकते शिव को इस विध जान सही ॥१४२॥

मोक्ष धाम यह मिले न केवल क्रिया काण्ड के करने से,
परंतु मिलता सहज सुलभ निज बोधन में नित चरने से ।
सदुपयोग तुम करो इसी से स्वीय-बोध जब मिला तुम्हें,
सतत यतन यति ! जगत ! जगत में करो मिले शिव किला तुम्हें ॥१४३॥

ज्ञानी मुनि तो सहज स्वयं ही देव रूप है सुख शाला,
चिन्मय चिंतामणी चिंतित को पाता अचिंत्य बल वाला ।
काम्य नहीं कुछ कार्य नहीं कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर संग्रह को अतः सुधी नहिं होगा था है बाध्य हुआ ॥१४४॥

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिव मग को,
तज पर इस विध विविध संग को दशविध बाहर के अघ को ।
भीतर घुस-घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने मिटा रहा है, मानस-कालुष-सरणी को ॥१४५॥

गत जीवन में अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड़ तब जाता है ।
विषयों के रस चखते पर वे रस के प्रति नहिं रति रखते,
विगतराग हैं परिग्रही नहिं नियमित निज में मति रखते ॥१४६॥

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनों मिटते क्षण-क्षण से,
उन्हीं लिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से ।
विराग झरना जिस जीवन में झर-झर झर-झर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है ? ॥१४७॥

विषय राग के रसिक नहीं मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह-मूल परिग्रह ही है, भाव परिग्रह नहिं रखते ।
रंग लगाओ वसन रंगो किन्तु रंग झट उड़ सकता,
कलुषी चित्तकषी जन बिना ही गाढ़ रंग कब चढ़ सकता ? ॥१४८॥

विषय-विषम-विष ज्ञानी जन ना कभी भूलकर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते ।
कर्म कीच के बीच रहे यति परंतु उससे ना लिपते,
रागी द्वेषी गृही असंयत पाप पंक से पर लिपते ॥१४९॥

जिसका जिस विध स्वभाव हो, हो उसका तिस विध अपनापन,
उसमें अंतर किस विध फिर हम ला सकते हैं अधुनापन ।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नहीं,
भोगो ज्ञानी पर वश विषयों तज रति, विधि बंधान नहीं ॥१५०॥

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हूँ कहता,
वितथ भाषता तब ए ! ज्ञानी भोग बुरा क्यों दुख सहता ।
भोगत "बंध" न हो यदि कहता भोगेच्छा क्या है मन में, ?
ज्ञान लीन बन नहिं तो !! रति वश जकड़ेगा विधि बंधन में ॥१५१॥

कर्ता को विधि बलपूर्वक ना कभी निजी-फल है देता,
कर्ता विधि फल-चखना चाहे खुद ही विधि फल चख लेता ।
विधि को कर भी मुनि ! विधिफल को, तजता परता सब जड़ता
विधि फल में ना रचता पचता ना बंधन में तब पड़ता ॥१५२॥

विधि फल तज भी विधि करते मुनि इस विध हम ना हैं कहते,
परन्तु परवश विधिवश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते ।
कौन कहें विधि ज्ञानी करते जब या रहते अमल बने,
आ, आ गिरते विधि, रहते निज-ज्ञान भाव में अचल तने ॥१५३॥

वज्रपात भी मुनि पर हो पर धर दृढ़ दृग धृति जपता है,
जबकि जगत यह कायर भय से पीड़ित कप कप कपता है ।
आत्म बोध से चिगता नहिं है, ज्ञान धाम निज लखता है,
निसर्ग निर्भय निसंग बनकर भय ना उर में रखता है ॥१५४॥

एक लोक है विरत आत्म का चेतन जो है शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत है ।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा, ?
निशंक मुनि अनुभवता तब बस स्वयं ज्ञान बनकर ऐसा ॥१५५॥

भेद रहित निज सुवेद्य वेदक-बल से केवल संवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञान मय इक चेतन ।
परकृत परिवेदन पीड़न से ज्ञानी को फिर डर कैसा, ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५६॥

जो भी सत है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वयं सत रहा कौन फिर उसका पर हो तब त्राता ?
अतः अकृत भय ज्ञानी जन को होगा फिर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५७॥

वस्तु रूप ही गुप्ति रही बस उसमें नहिं पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है ।
अतः अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५८॥

प्राणों का हो कण कण खिरना मरण नाम बस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नहीं मिट यह जाता,
मरण नहीं निज आतम का है अतः मरण से डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५९॥

आदि अन्त से रहित अचल है एक ज्ञान है उचित सही,
आप स्वतः है जब तक तब तक उसमें पर हो उदित नहीं ।
आकस्मिक निज में ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१६०॥

समरस परिणत शुद्ध बोध का पावन भाजन बन जाता,
विराग दृग धारक विधि-नाशक दृष्टि अंग वसु धन पाता ।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गंध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगत भी विधि बंध न हो ॥१६१॥

अष्ट अंग दृग संग संभाले नव्य कर्म का कर संवर,
बद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अंबर ।
आदि अंत से रहित ज्ञान बन स्वयं मुदित हो दृगधारी,
तीन लोक के रंग मंच पर नाच रहा है अघहारी ॥१६२॥

इति निर्जराधिकारः

दोहा

साक्षी बनकर विषय का करते मुनिवर भोग ।
पूर्व-कर्म की निर्जरा हो तब शुचि उपयोग ॥१॥

बंध किये बिन बंधका बंधन टूटे आप ।
महिमा यह सब साम्य की विराग-दृग की छाप ॥२॥

बन्ध-अधिकार

बन्ध तत्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को, मत्तबनाकर खेल रहा था खुला खिला ।
धीर निराकुल उदार मानस ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस, पीकर अब बन्ध तत्व को भगा रहा ॥१६३॥

सचित अचित का वध नहिं विधि के बंध हेतु ना इन्द्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहिं है चंचलतम भी "वच तन मन" ।
राग रंग में रचता पचता रागी का उपभोग रहा,
केवल कारण विधि बन्धन को यों कहते मुनि लोग अहा ॥१६४॥

यदपि भले ही इन्द्रिय गण हो चिदचित वध हो क्षण क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा हो चंचलतर ये तन मन हो ।
राग रंग से रंजित करता यदि नहिं शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृढ़ धारक मुनि पाता नहिं विधि-योगन को ॥१६५॥

परन्तु ज्ञानी मुनि को बनना स्वेच्छाचारी उचित नहीं,
उच्छृंखलपन बन्ध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नहीं ।
इच्छा करना तथा जानना युगपत् दो ये नहिं बनते,
बिना राग के कार्य अतः हो मुनि के नहिं तो ! विधि तनते ॥१६६॥

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि बन्धन,
जो विधि करता नहिं निज लखता यही राग का अनुरंजन ।
राग रहा है अबोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्या दर्शन बन्ध हेतु वह जिनवाणी का यह आशय ॥१६७॥

नियत रहे हैं सभी जगत में सुख दुख मृतिभय जनना रे !
अपने-अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे ।
सुख दुख देता पर को जीवित करता मैं निज के बल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलतः वंचित केवल से ॥१६८॥

पर से जीवन जीता जग है सुख दुख पाता मरता है,
अविध जड़ ही कहता रहता मूढ़पना बस धरता है ।
बहुविध विधि को करता फलतः अहंकार-मद पीता है,
मिथ्यादृष्टी निजघातक है दानव-जीवन जीता है ॥१६९॥

जग के पोषण-शोषण का यह मिथ्या दृष्टी का आशय,
बोध विनाशक निगम रूप से अबोध-तम-तम-का आलय ।
कारण ! इसका आशय निश्चित, भ्रम है भ्रम का कारण है,
सतत विविध बहुविध विधि के बंध, बन्धन है आत्म-मारण है ॥१७०॥

दुःखमय अध्यवसायन कर कर निज अनुभव से स्खलित हुआ,
दीन हीन मति हीन हुवा है संमोहित है भ्रमित हुवा ।
मोही प्राणी सबको अपना कहता रहता भूल रहा,
इसीलिये वह इन्द्रिय विषयों-में निशदिन जो झूल रहा ॥१७१॥

सकल विश्व से पृथक रहा वो यद्यपि आत्म अपना है,
तथापि परको अपना कहता करता मोही सपना है ।
अध्यवसायन-दल यह केवल मोह मूल ही है इसका,
स्वप्न दशा में भी ना यतिवर आश्रय लेते हैं जिसका ॥१७२॥

अध्यवसायन को कहते "जिन" त्याज्य त्याज्य बस निस्सारा,
जिसका आश्रय में लेता बस छुड़वाया सब व्यवहारा ।
शुद्ध ज्ञान-घन में धृति फिर भी क्यों ना धारण करते हैं,
निश्चल बन मुनि निज छवि में हा ! क्या कारण नहिं चरते हैं ॥१७३॥

शुचि मय चेतन से हैं न्यारे रागादिक अघ ये सारे,
बहुविध विधि के बंधन कारण यह तुम मत जिन ! ए प्यारे ।
रागादिक का पर क्या कारण पर है अथवा आतम है,
इस विध शंका यदि जन करते कहते तब परमातम है ॥१७४॥

रागादिक कालुष परिणतियां यद्यपि आतम में होती,
स्वभाव से पर वे ना होती कर्म-हेतु वश ही होती ।
मोह पाक ही उसमें कारण वस्तु तत्व यह उचित रहा,
सूर्य बिम्ब वश सूर्यकान्तिमणि से ज्यों अगनी उदित अहा ॥१७५॥

इस विध पर की बिना अपेक्षा वस्तु तत्व का अवलोकन,
सहज स्वयं ही ज्ञानी मुनिजन करते परका कर मोचन ।
रागादिक से अतः स्वयं को करते नहीं कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते नहिं हैं फलतः सदा अशंकित हैं ॥१७६॥

वस्तु-तत्व का रूप कभी ना जिनके दृग में अंकित है,
अज्ञानी वे कहलाते हैं निज के सुख से वंचित हैं ।
रागादिक से अतः स्वयं को करते सदा-कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते जब हैं फलतः पामर शंकित हैं ॥१७७॥

इसविध विचार विविध विकल्पों को तजते निज भजते हैं,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते हैं ।
निजी निरामय संवेदन से भरित आत्म को पाते हैं,
बन्ध मुक्त बन भगवन अपने में तब आप सुहाते हैं ॥१७८॥

बहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि-बंध, मिटा बन निरा अदय,
विधि बन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय ।
भ्रम-तम-तम को तथा भगाता, ज्ञान भानु अब उदित हुआ,
जिसके बल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुवा ॥१७९॥

इति बन्धाधिकारः

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहिं वसु विध-विधि-बंध ।
रागादिक ही नियम से बंधहेतु, सुन-अंध ॥१॥
बन्ध तत्व का ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत ।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात्, स्वाश्रित हेतु ॥२॥

मोक्ष-अधिकार

भिन्न भिन्न कर बन्ध पुरुष को प्रज्ञामय उस आरे से,
बिठा पुरुष को मोक्ष धाम में उठा भवार्णव-खारे से !
परम सहज निज चिदानन्दमय-रस से पूरित झील अहो !
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ॥१८०॥

आत्म कर्म की सूक्ष्म संधि में प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञाछेनी पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके ।
सर्वभाव विभाव से विरम, थिर ध्रुव चेतन में निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर कर दूर वह हा ! तम को ॥१८१॥

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उस भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊँ मैं क्षण क्षण से ।
कारक गुण धर्मादिक से मुझ में भले हि कुछ भेद रहे,
तथापि शुचिमय विभुमय चिति में भेद नहीं, गत-भेद रहे ॥१८२॥

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेष नहिं रह पाते तजता निजको तभी सुनो ।
निजको तजता भजता जड़ता बिना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अतः नियम से आत्म, ज्ञान-दृग का केतन ॥१८३॥

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब परके पर हैं तू क्यों उनमें फंसता है ?
उपादेय है ज्ञेय ध्येय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय हैं पर के सारे सुखद-अचेतन-भाव कदा ? ॥१८४॥

जिन की मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधे,
छविमय द्युतिमय एक आपको शुचितम करके शिव, साधे ।
विविध भाव हैं जो कुछ लसते मुझसे विभिन्नपन धारे,
मैं बस चेतन ज्ञान-निकेतन ये पर सारे हैं खारे ॥१८५॥

जड़मय-पुद्गल पदार्थ दल का पर का संग्रह करता है,
वसु विधि विधि से अपराधी वह बंधता विग्रह धरता है ।
निरपराध मुनि विराग बन के निज में रमता भज संवर,
बंधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अंबर ॥१८६॥

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधि पाता,
विधि से बंधता निरपराध नहिं यतिवर निज की निधि पाता ।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध बन दुख पाता ॥१८७॥

विलासतामय जीवन जीते प्रमत्त जन को धिक्कारा,
क्रिया काण्ड को छुड़ा मिटाया चंचलतम मन की धारा ।
शुद्ध-ज्ञान-घन की उपलब्धी जीवन में नहिं हो जब लौं,
निश्चित निज में उनको गुरु ने विलीन करवाया तब लौं ॥१८८॥

प्रतिक्रमण ही विष है खारा गाया जिनने जब ऐसा,
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तब कैसा ?
बार बार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो,
क्यों ना ऊपर-ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो ॥१८९॥

प्रमाद मिश्रित भाव-प्रणाली शुद्ध-भाव नहिं वह साता,
कषायरंजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता ।
सरस स्वरस परि-पूरित निज के स्वभाव में मुनिरत होवे,
फलतः पावन शुचिता पावें शिवको, पर अविरत रोवें ॥१९०॥

विकृत विभावों के कारण पर-द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता मुनि यथार्थ निज में, पर को कभी न भजता है ।
तोड़-तोड़ कर वसु-विध-बंधन पाप पंक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर में स्नपित-पूर्ण शुचि होता है ॥१९१॥

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण-ज्ञान पा, राग हटा,
जगमग जगमग करता निज को सहज दशा में जाग उठा ।
केवल ! केवल, रस से पूरित नीर-राशि सम गंभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज-तेज से अगम अमित तम, समधीरा ॥१९२॥

इति मोक्षाधिकारः

दोहा

[illegible] विष विष का विलयमय नित्य, समय का मोक्ष ।
[illegible] रूप है सिद्ध में, तुझ में वही परोक्ष ॥१॥

दृग व्रत-समता धार के द्रव्य-भव्य भज आप ।
निरा निरामय आत्म हो रूप द्रव्य तज ताप ॥२॥

सर्व विशुद्धज्ञान-अधिकार

कर्तृ-भोक्तृ-मय विभाव भावों घटा, मिटा अघ-अंजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल बंध मोक्ष के रंजन से ।
अचल प्रकटतम महिमा धारी ज्ञानपुंज दृग मंजु सही,
शुद्ध, शुद्धतम, विशुद्ध शोभित स्वरस-पूर्ण द्युति पुण्यमही ॥१९३॥

[illegible] चेतन आतम का निज संवेदन निज भाव रहा,
वश कर्तापन आतम का होता नहिं, पर भाव-रहा ।
मूढ़पना वश करता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढ़पन, कर्ता नहिं हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी ॥१९४॥

यद्यपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा, नहिं कर्ता है,
तीन लोक में फैल रहा है ले शुचि-चिति-द्युति शिव धर्ता है ।
तदपि मूढ़ता की कोई है महिमा सघना-गम न्यारी,
इसीलिए विधि बंधन होता दुखकारी, सुख शम-हारी ॥१९५॥

जैसा कर्तापन आतम का होता नहिं निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहिं भोक्तापन भी भाव रहा ।
मूढ़ पना वश भोक्ता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
उसे नाशकर सुखी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी ॥१९६॥

अज्ञानी विधिफल में रमता निश्चित विधि का वेदक है,
ज्ञानी विधि में रमता नहिं है वेदक ना, निज-वेदक है ।
इस विध विचार मुनिगण ! तुम को मूढ़ पना बस तजना है,
ज्ञानपने के शुद्ध तेज में निजमें निज को भजना है ॥१९७॥

ज्ञानी विराग मुनि नहिं विधि का करता वेदन, विधि करता,
केवल विधिवत विधि का विधिपन जाने, गुण-वारिधि धरता ।
कर्तापन वेदन-पन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म-मुक्त ही कहलाता ॥१९८॥

निजको पर का कर्ता लखते परमें मुनि जो अटक रहे,
मोहमयी अति घनी निशा में, इधर उधर वे भटक रहे ।
यदपि मोक्ष की आशा रखते तदपि सदा भव दुख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहिं अक्षय शिव सुख पाते ॥१९९॥

आत्म-तत्व औ अन्य तत्व ये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रहते हैं,
एक-मेक हो आपस में मिल प्रवाह बन ना बहते हैं ।
कर्तृ-कर्म संबंध सिद्ध वह इसविध जब ना होता है,
फिर किस विध पर कर्तृ-कर्म-पन हो, क्यों फिर तू रोता है ॥२००॥

सभी तरह सम्बन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्बन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी ।
वस्तु भेद होने से, फिर क्या कर्तृ कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलतः लखते, अब ना निशा रही ॥२०१॥

ज्ञान तेज अज्ञान भाव में ढ़ला खेद जिनका तातें,
निज पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते ।
मूढ़ कर्म वे करते फलतः लखते निज चैतन्य नहीं,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अतः स्वयं है, अन्य नहीं ॥२०२॥

कर्म कार्य जब किया हुवा, पर जीव प्रकृति का कार्य नहीं,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तब अनिवार्य सही ।
मात्र प्रकृति का भी न, अचेतन प्रकृति ! जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म यों चेतनमय है, पुद्गल ज्ञान न धरता है ॥२०३॥

मात्र कर्म "कर्ता" यों कहता निज कर्तापन छिपा रहा,
कथंचिदात्मा "कर्ता" कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा ।
उस निज घातक की लघुधी को महामोह से मुदी हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिती यह कही गई ॥२०४॥

लखे अकर्तामय निज को नहिं जैन सांख्य सम ये तब लौं,
कर्ता मय ही लखे सदा, शुचि-भेद ज्ञान नहिं हो जबलौं ।
विराग जब मुनि तीन गुप्ति में-लीन, समिति में नहिं भ्रमते,
कर्तृभाव से रहित पुरुष के बोध-धाम में तब रमते ॥२०५॥

कर्ता भोक्ता भिन्न-भिन्न है आत्म तत्व जब क्षणिक रहा,
इस विध कहता सुगत उपासक जिसमें-बोध न तनिक रहा ।
चेतन का शुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनशाता,
सरस सुधारस से सिंचन कर मुकुलित कलिका विकसाता ॥२०६॥

अंश भेद ये पल-पल मिटते, अंशी से अति पृथक रहे,
अतः विनश्वर अंशी है, हम वस्तु तत्व के कथक रहें ।
विधि का कर्ता अतः अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विध एकान्ती मत, मत तुम धारो, जिन-मत वन्द्य अहा ॥२०७॥

शुचितम निजको लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहें !
काल उपाधी वश आतम में अधिक अशुचिपन मान रहें !
सूत्र-ऋजु नयाश्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा,
बौद्धों ने मणि स्वीकारा, पर त्यागी माला बिन धागा ॥२०८॥

कर्ता भोक्ता में विधि वश हो अन्तर या ना किंचन हो,
कर्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चिंतन हो !
माला में ज्यों मणियां गुंथी चिति चिंतामणि आतम में,
पृथक उन्हें कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम में ॥२०९॥

व्यवहारी मानव दृग की ही केवल यह है विशेषता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न-भिन्न ही यहाँ झलकते अशेषता ।
निश्चय नय का विषय भूत उस विरागता का ले आश्रय,
मुनि जब लखता निजको, भेद न अभेद दिखता सुख आलय ॥२१०॥

आश्रय, आश्रय-दाता क्रमशः सुपरिणाम परिणामी है,
अतः कर्म परिणाम उसी का परिणामी वह स्वामी है ।
कर्ता के बिन कर्म न पदार्थ दोनों का वह भर्ता है,
वस्तु स्थिति है निज परिणामों का निज ही बस कर्ता है ॥२११॥

अमिट-अमित-द्युति बल ले चेतन जग में विहार करता है,
किन्तु किसी में वह ना मिलता यों मुनि विचार करता है ।
यदपि वस्तुएं परिणती हैं अपने अपने भावों से,
तदपि वृथा क्यों व्यथित मूढ़ है स्वभाव तज अघ-भावों से ॥२१२॥

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नहीं बनेगी गुरु गाता,
वस्तु सदा बस वस्तु रहेगी वस्तु तत्व की यह गाथा ।
इस विध जब यह सिद्ध हुआ पर पर का फिर क्या कर सकता ?
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता ॥२१३॥

अन्य वस्तु के परिणामों में पदार्थ निमित्त बनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता पर कर्ता नहिं बनता है ।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है करती इस विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टी निश्चय से तुम ना गहना ॥२१४॥

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने में जब तत्पर हो,
एक द्रव्य बस विलसित होता, नहीं प्रकाशित तब पर हो ।
ज्ञेय ज्ञान में तदपि झलकते ज्ञान बना जब शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ़ तू पर में रमता निजपन पर में कर अर्पण ॥२१५॥

शुद्ध आत्म की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
विषय विषैली रहे भले पर पृथक पड़ी पर सभी गिरी ।
धवलित भूतल करती किरणें शशि की "भूमय" नहिं होती,
ज्ञान, ज्ञेय को जान "ज्ञेय मय" नहिं हो, यह शुचिमय ज्योति ॥२१६॥

ज्ञान-ज्ञान बन, ज्ञेय निजी को बना, न जब तक शोभित हो,
राग रोष ये उठते उर में आतम जब तक मोहित हो ।
मूढ़ पने को पूर्ण हटा कर, ज्ञान ज्ञान पन पाता है,
अभाव-भावों हुए मिटा कर पूरण स्वभाव भाता है ॥२१७॥

मूढ़ पने में चलना ज्ञान ही राग रोष है कहलाता,
रागाधिरत मुनि रागादिक को तभी नहीं कर वह पाता ।
विराग दृग पा रागादिक का तत्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्ष धाम में वास करो ॥२१८॥

रागादिक कालुष भावों का पर-पदार्थ नहिं कारण है,
तत्व दृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अघ-मारण है ।
समय-समय पर पदार्थ भर में जो कुछ उठना मिटना है,
अपने-अपने स्वभाव वश ही समझ जरा ! तू इतना है ॥२१९॥

मानस सरवर में यदि लहरें राग रंग की उठती हैं,
पर को दूषण उसमें मत दो स्वतंत्र सत्ता लुटती है ।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध हीन रति करता है,
"बोध-धाम में" सुविदित हो यह अबोध पल में टलता है ॥२२०॥

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने में,
डरते नहिं है कतिपय विषयी जड़ जन इस विध कहने में ।
डूबे निश्चित, कभी नहीं वे मोह सिन्धु को तिरते हैं,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव भव दुख से घिरते हैं ॥२२१॥

परम विमल निश्चयतामय निज बोध धार पर से ज्ञानी,
दीप घटादिक से जिसविध ना विकृत प्रभावित मुनिध्यानी ।
निज पर भेद ज्ञान बिन फिर भी राग रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यों भजते, तजते समता, करते नादानी ॥२२२॥

राग रोष से रहित ज्योति धर निज निजपन को छूते हैं,
विगत अनागत कर्म मुक्त हैं कर्मोदय ना छूते हैं ।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित में है अति भाते,
निज रस से सिंचित करती जग, "ज्ञान चेतना" यति पाते ॥२२३॥

ज्ञान चेतना करने से ही, शुद्ध, शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर, तनता है ।
मूढ़पने के संचेतन से बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना नियमरूप से विधि बन्धन में फंसती है ॥२२४॥

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से आ मन से,
विगत अनागत आगत विषयों निकालता मैं चेतन से ।
सकल क्रिया से विराम पाया, निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्तम्भन ॥२२५॥

मन मोही बन व्रत में यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका विधिवत प्रतिक्रमण का भाव लिया ।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा, तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में ॥२२६॥

मोह भाव से अनुरंजित हो साम्प्रत कर्म किया करता,
उनका भी मैं आलोचन कर त्याग भाव निज पे धरता ।
चेतन रस से भरा हुआ सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता तम में ॥२२७॥

वीतमोह बन, वीतराग बन निग्रह कर मन स्पंदन का,
प्रत्याख्यान करूँ मैं अब उस भावी विधि के बन्धन का ।
चेतन रस से भरा हुआ सब-क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में ॥२२८॥

इस विध बहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को ।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-में बस निश दिन रमता मैं,
निर्मोही बन, निर्विकार बन, केवल धरता समता में ॥२२९॥

मेरे विधि के विष तरु में जो कटु विष-फल-दल लटक रहे,
सड़े गिरे वे बिना भोग के मन कहता ना निकट रहे ।
फलतः निश्चल शैल सचेतन शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि में समय समय पर उदभवता ॥२३०॥

अशेष-वसुविध विधि के फल को पूर्ण उपेक्षित किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी ।
अमिट काल की परम्परा मम भजे निरंतर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार करले सहज स्वयं शिव-केतन को ॥२३१॥